२५ सांख्यदर्शन में कर्म

□ श्री धर्मचन्द जैन

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक थे महर्षि कपिल। कपिल ने सांख्यदर्शन का प्रणयन करते हुए मूल रूप से जैनदर्शन के सदृश दो ही तत्त्व स्वीकार किए—पुरुष और प्रकृति। कपिल के पुरुष को जैनदर्शन में जीव एवं प्रकृति को अजीव शब्द से पुकारा जा सकता है। जिस प्रकार जैनदर्शन में जीव एवं अजीव के सम्बन्ध से ही अन्य समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से ही समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गई है। सांख्यदर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गए हैं—प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत एवं पुरुष। सेश्वर सांख्य के अनुयायी ईश्वर को भी छब्बीसवाँ तत्त्व मानते हैं।

कर्म-परिचय :

यद्यपि सांख्यदर्शन में 'कर्म' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है किन्तु जैनदर्शन में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है। तभी तो ईश्वर-कृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ में ही आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के दुःखों के आत्यन्तिक क्षय की बात कही गई है। जैनदर्शन में दुःखों को कर्मों का फल माना गया है और कर्मों का विभाजन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि रूपों से आठ भागों में किया गया है। सांख्यदर्शन में भी जो कुछ सुख-दुःख होते हैं वे अविवेक अथवा अनादि अविद्या के कारण होते हैं। यह अविवेक ही कर्मों का अथवा संसार में भ्रमण करने का मूल कारण है। इसकी समाप्ति होने पर कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और दुःख-सुख से पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है। फिर वह जीवनमुक्ति (अरिहन्तावस्था) एवं विदेहमुक्ति (सिद्धावस्था) को भी प्राप्त कर लेता है। शरीर के रहते हुए जीवनमुक्ति की अवस्था रहती है तथा शरीर के छूटने के पश्चात् विदेहमुक्ति की अवस्था आजाती है।

पुरुष एवं उसका संयोग :

जैनदर्शन तथा सांख्यदर्शन में एक मूलभूत अन्तर यह है कि जैनदर्शन जीव को ही समस्त सुख-दुःखों (कर्मों) का कर्त्ता एवं भोक्ता प्रतिपादित करता है जबकि सांख्यदर्शन इसको अकर्ता एवं द्रष्टा के रूप में प्रतिपादित करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'सांख्यकारिका' में कहा गया है—'न प्रकृतिर्न न विकृतिः पुरुषः।' अर्थात् पुरुष न कारण है और न कार्य ही। वह त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, चेतन, अप्रसव-धर्मी, अविकारी, कूटस्थ, नित्य, मध्यस्थ, द्रष्टा एवं अकर्त्ता होता है। जो गुण एक कर्मरहित जीव में जैनदर्शन बतलाता है वे ही गुण सांख्यदर्शन एक पुरुष में निरूपित करता है। 'सांख्यकारिका' में निरूपित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः यह चेतन पुरुष न कभी बन्ध को प्राप्त हुआ है और न होगा—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

अर्थात् किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न संसरण और मोक्ष ही। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है। वास्तव में प्रकृति ही समस्त सृष्टि का मूल कारण है। प्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पंचतन्त्रमात्राएँ एवं पञ्चमहाभूत उद्भूत हुए हैं। प्रकृति ही समस्त दृश्य है। फिर भी प्रकृति एकाकिनी रहकर कुछ भी नहीं कर सकती। पुरुष का संयोग होने पर ही प्रकृति सृष्टि का निर्माण करने में सक्षम होती है। प्रकृति का पुरुष के साथ वैसा ही संयोग है जैसा अन्धे एवं पंगु व्यक्ति का संयोग होता है—'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।' पंगु एवं अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार मिलकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार प्रकृति के संयोग से पुरुष अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। प्रकति का पुरुष के साथ यह संयोग कैवल्य की प्राप्ति के लिए ही होता है, किन्तु यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

बन्धन-प्रक्रिया :

प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही बन्धन है। यह बन्धन अविवेक के कारण होता है। वास्तव में तो पुरुष निर्विकार, अकर्ता एवं द्रष्टा है और प्रकृति कर्त्री है किन्तु प्रकृति पुरुष का संयोग पाकर ही कार्य करती है। प्रश्न तो तब उपस्थित होता है जब पुरुष अकर्ता, द्रष्टा एवं निर्विकार होते हुए भी अपने को सुखी, दुःखी एवं बन्धन में बँधा हुआ अनुभव करता है। सांख्यदर्शनशास्त्री इसका समाधान करते हुए कहते हैं—बुद्धि एक ऐसा तत्त्व है जिसमें चेतन पुरुष भी संक्रान्त होता है और अनुभूयमान वस्तु भी संक्रात होती है। फलस्वरूप चेतन पुरुष उस वस्तु से प्रभावित अनुभव होता है और बंधन को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि पुरुष एवं प्रकृति अत्यन्त भिन्न हैं तथापि पुरुष को इस पार्थक्य का बोध नहीं रहता, इसलिए वह अपने को बँधा हुआ अनुभव करता है। 'सांख्य-कारिका' में कहा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् दोनों के संयोग से अचेतन बुद्धि आदि प्रकृति चेतन सदृश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार प्रकृति-गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है। यही बंधन है। जब तक यह संयोग चलता रहता है, भोग होता रहता है। लेकिन जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाता है तब बंधन समाप्त हो जाता है, कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

असत्कार्यवाद :

सांख्यदर्शन का मूल सिद्धान्त असत्कार्यवाद है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है, नया उत्पन्न नहीं होता। तिलों में तेल पहले से अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है तभी तो उसमें से तेल निकलता है। रेत में से तेल नहीं निकलता क्योंकि उसमें पहले से विद्यमान नहीं होता। संक्षेप में किसी कार्य की अव्यक्तावस्था कारण एवं कारण की व्यक्तावस्था कार्य कही जा सकती है।

यही कारण है कि पुरुष को अकर्ता एवं द्रष्टा प्रतिपादित किया गया है। उसको सदैव निर्विकार बतलाया गया है। वह न बन्धन को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है—यह बात भी इसीलिए कही गयी है।

प्रकृति का उपकार :

प्रकृति पुरुष के भोग एवं कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। वह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए सृष्टि का निर्माण करती है। ईश्वरकृष्ण ने कहा है—'जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध स्वतः निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त होती है।' प्रकृति के विषय में यहाँ तक कह दिया गया कि जिस प्रकार अपनी इच्छा पूर्ति के लिए व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

कैवल्य :

पुरुष एवं प्रकृति का पार्थक्य-बोध ही कैवल्य का कारण है। इस पार्थक्य-बोध को विवेकख्याति नाम दिया जाता है। इसमें तत्त्वों के अभ्यास को भी कारण माना गया है। 'सांख्यकारिका' में कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

अर्थात् तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास करने से 'न मैं (क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं कर्त्ता हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण एवं विपर्ययरहित होने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तब विमल एवं द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेकज्ञान के सामर्थ्य से प्रकृति को देखता है। चेतन पुरुष 'मैंने उसे देख लिया है'—यह विचार करके उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी 'उसने मुझे देख लिया है'—यह सोचकर व्यापार शून्य हो जाती है।

जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उस विषय में प्रवृत्त नहीं होती। यथा—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ।।

विदेह मुक्ति :

विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) होने के पश्चात् भी शरीर का विनाश नहीं होता। शरीर का विनाश होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति का पृथक् रूप से दर्शन कर लेने के पश्चात् एवं उसका व्यापार समाप्त हो जाने के पश्चात् भी शरीर के रहने का क्या औचित्य है? सांख्य-कारिकाकार ने उसका समाधान करते हुए कहा है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठतिसंस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ।।

अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सञ्चित धर्म; अधर्म इत्यादि कर्मों का बीजभाव तो नष्ट हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग नामक संस्कार से घूमती रहती है।

जिस प्रकार जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय नामक चार घनघाति कर्मों का क्षय करने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु फिर भी शरीर बना रहता है। अन्य चार कर्मों के समाप्त होने पर ही आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त करती है; उसी प्रकार सांख्यदर्शन में सञ्चित कर्मों का विनाश हो जाने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मों के बल पर शरीर बना रहता है, उसके विनाश होते ही विदेहावस्था प्राप्त हो जाती है।

उपसंहार :

सत्य एक ही है किन्तु उसका प्रस्तुतीकरण भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैनदर्शन में बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया तथा कर्मों का स्वरूप जिस सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित किया गया है, सांख्यदर्शन में उसको भिन्न रूप में प्रतिपादित करने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का प्रयास किया गया है। जीव (पुरुष) को सांख्यदर्शन अकर्ता मानता हुआ भी बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरता है।

जैनदर्शन की भाँति सांख्यदर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। जैनदार्शनिक जिसे कार्मणशरीर कहते हैं, सांख्यदार्शनिक उसे लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। विदेहमुक्ति होने पर यह लिङ्गशरीर समाप्त हो जाता है।

सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति को सांख्यदर्शन कर्त्री मानता है तथा इसे ही पुरुष को मुक्ति दिलाने में सहायक भी मानता है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही कर्म (संस्कार) को उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप भोग प्राप्त होता है। अंत में कैवल्य की प्राप्ति विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) से होती है।

आतमराम

राग—मांढ

अष्ट करम म्हारो काँई करसी जी, मैं म्हारे घर राखूं राम।
इन्द्री द्वारे चित्त दौरत है, तिन वश ह्वै नहीं करस्यूं काम॥ अष्ट०॥१॥

इनको जोर इतोही मुझपै, दुःख दिखलावै इन्द्री ग्राम।
जाको जातू मैं नहीं मानूं, भेदविज्ञान करूँ विश्राम॥ अष्ट०॥२॥

कहु राग कहु दोष करत थो, तब विधि आते मेरे धाम।
सो विभाव नहीं धारूँ कबहूँ, शुद्ध स्वभाव रहूँ अभिराम॥ अष्ट०॥३॥

जिनवर मुनि गुरु की बलि जाऊँ, जिन बतलाया मेरा ठाम।
सुखी रहत हूँ दुःख नहिं व्यापत, 'बुधजन' हरषत आठों याम॥ अष्ट०॥४॥

—बुधजन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org